भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की अवधारणाः एक विश्लेषण

डा. अखिलेश कुमार सिंह
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान,
श्री महंथ रामाश्रय दास स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भुड़कुड़ा, गाजीपुर

राष्ट्रवाद के बारे में भारत में पिछले लगभग दो सौ वर्षों में कई प्रकार की अवधारणाएँ आयीं। एक ओर जहाँ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों का कथन था कि भारत में कोई राष्ट्र नहीं है, वहीं राष्ट्र के सम्बन्ध में आजादी आन्दोलन के दौरान आधारभूत विचार था कि भारत एक राष्ट्र है अथवा एक राष्ट्र के निर्माण की मानसिकता ने दो राष्ट्रों की अवधारणा को प्रस्तुत किया। स्वतंत्रतापूर्व साम्यवादी आन्दोलन ने मुस्लिम लीग मत को स्वीकार करते हुए अपना विचार इस रूप में स्पष्ट किया कि भारत एक राष्ट्र नहीं अपितु तमाम भिन्न-भिन्न राष्ट्रीयताओं का एक उप महाद्वीप है। ज्ञातव्य है कि भारत के सम्बन्ध में एक राष्ट्र की अवधारणा, स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान दो धाराओं में विकसित हुई। एक धारा इस मान्यता पर आधारित थी कि भारतीय राष्ट्रवाद का स्वरूप भू-राजनीतिक है। इससे भिन्न भारतीय राष्ट्रवाद की दूसरी धारा की मान्यता थी कि एक प्राचीन सभ्यता वाले देश भारत में राष्ट्रवाद की अवधारणा को उसके सभ्यतागत परिप्रेक्ष्य में ही देखा और समझा जा सकता है और इस प्रकार इसका स्वरूप-भू-राजनीतिक नहीं भू-सांस्कृतिक है।

पंडित जवाहर लाल नेहरू ने स्वाधीनता के बाद 24 जनवरी, 1948 को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए कहा था, ''हमें अपनी उस विरासत और अपने उन पूर्वजों पर गर्व है जिन्होंने भारत को बौद्धिक एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता प्रदान की। आप इस अतीत के बारे में क्या सोचते हैं? क्या आपको भी यह महसूस होता है कि आप भी इसके साझीदार और उत्तराधिकारी हैं? क्या आज भी आप उसे अपना नहीं समझते हैं। उनकी स्पष्ट अपेक्षा थी कि उन सब विद्यार्थियों को भी प्राचीन भारत की उपलब्धियों के लिए गौरव का अनुभव करना चाहिए। 1961 में मदुराई में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सत्र में दिये गये भाषण में भारत के प्रथम प्रधानमंत्री ने कहा ''पिछले कई युगों से भारत तीर्थ यात्राओं का देश रहा

है। पूरे देश में बर्फीले हिमालय की शिखरों पर बद्रीनाथ, केदारनाथ और अमरनाथ से लेकर नीचे दक्षिण में कन्याकुमारी तक ऐसे अनेक प्राचीन स्थल मिलेंगे। इन महान तीर्थ यात्राओं में कौन सी ऐसी विशेषता है जिससे लोगों को दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण जाने के लिए प्रेरित किया है? इसके पीछे एक देश और संस्कृति की भावना रही है और इसी भावना ने हमें एक साथ जोड़ रखा है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी कहा गया है कि भारत वह देश है जो उत्तर में हिमालय पर्वत से लेकर दक्षिण में समुद्र तक फैला हुआ है। भारत के बारे में, जिसे लोग पावन भूमि मानते हैं, एक महान देश होने की संकल्पना युगो-युगों से चली आ रही है और हम सभी को एक सूत्र में बाँधे हैं। हालाँकि हमारे अलग-अलग रजवाड़े थे और हमारी अलग-अलग भाषाएँ हैं, फिर भी यह रेशमीबंधन अनेक प्रकार से हमें बाँध कर रखें हैं।'' नेहरू जी ने हिन्दू शब्द का प्रयोग नहीं किया था किन्तु उन्होंने स्पष्ट रूप से हिन्दू को इस देश और इसकी प्राचीन संस्कृति के सदियों से पुराने सम्बन्ध तथा राष्ट्रीय एकता को एक सूत्र में पिरोने वाले धागे के रूप में अवश्य स्वीकार किया था। ऐसी कोई बात जिससे यह एक सूत्र में पिरोने वाले धागे कमजोर हो तो, निश्चय ही राष्ट्रीय एकता को कमजोर करता है। इस निरूपण से यह साफ हो जाता है कि स्वाधीन भारत प्राचीन भारत का ही विकसित, आधुनिक रूप है।

अधिकांश पश्चिमी विद्वानों के मतानुसार राष्ट्रवाद एक ऐसा राजनीतिक सिद्धान्त है जो राष्ट्र को राजनीतिक संगठन की मुख्य इकाई मानता है जिसका मुख्य लक्ष्य विशिष्ट राष्ट्रीय जनसमूह पर अवलम्बित स्वाधीन राष्ट्र-राज्य (नेशनल स्टेट) का गठन करना है। पिछले दो शताब्दियों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि इस मतवाद को मानने वाले

अपने देश में तो दूसरे देशों के शासन का विरोध करते है किन्तु शीघ्र ही अपनी राजनीतिक लालसा के कारण प्रायः साम्राज्यवादी का बाना धारण कर लेते हैं। क्या इस मान्यता को भारत पर आरोपित किया जा सकता है? मेरे मतानुसार ऐसा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि हमारे पारम्परिक राष्ट्र चिंतन में राजनीति की भूमिका गौण है। उसमें व्यापक अर्थ में प्रधानता है। प्रयुक्त धर्म अथवा संस्कृति की। अतः उसकी परिणति हिंसक आक्रामकता में न होकर उदार, सहिष्णु वैश्विकता में होती है।

श्री अरविन्द घोष ने उतरपाड़ा के अपने विख्यात भाषण में कहा था, ''हमारा सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस राष्ट्र की अवनति होती है, और सनातन धर्म का विनाश यदि संभव होता तो सनातन धर्म के साथ ही इस राष्ट्र का भी विनाश हो गया होता।' यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता कि सनातन धर्म का अर्थ है- चिरपुरातन होते हुए भी नित्य नूतन धर्म, स्वरूप में अपरिवर्तन रहते हुए भी, युगीन प्रयोजनों के अनुरूप नव-नव रूप धारण करने में समर्थ धर्म।

अतः राष्ट्रवाद को परिभाषित करने के पहले हमें अपने पारम्परिक स्वरूप को पहचानना चाहिए। हमें उस स्वरूप को हृदयंगम करना चाहिए जो परिस्थितियों के दबाव में रूपतः बाहर से तो बदलता रहा है, किन्तु भीतर से अपरिवर्तित रहा है। भारतीय ऋषियों ने परम तत्व का स्वरूप निर्धारित किया है सच्चिदानन्द अर्थात् वह सत् स्वरूप है, सदा रहा है, आज भी, आगे भी रहेगा, उसका अभाव कभी नहीं हो सकता, वह चित् स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, नश्वर सुख-दुख से परे शुद्ध आनन्दमय है। इसका अर्थ यह भी है कि जो सत् है, वही चित् है वही आनन्द है। यह तत्व सृष्टि की रचना करते समय अपने को बहु बनाता है, **''एकोऽहं बहुस्यां।''**

धर्म की अवधारणा -

कर्मफल भोग का यह सिद्धान्त भी हमारी आधार मान्यताओं में से एक है। मनुष्य को अच्छाई की ओर ले जाने के लिए ही धर्म और संस्कृति का विधान किया गया। धर्म की परिभाषा है **''यतोभ्युदयानि श्रेयस् सिद्धिः स धर्मः''** अर्थात् धर्म वह है जिससे भौतिक अभ्युदय और मोक्ष की प्राप्ति हो। धर्म व्यक्ति का भी होता है समष्टि का भी। महाभारत में कहा गया है कि धारण करने की शक्ति के कारण धर्म धर्म होता है। धर्म वहीं जो प्रजा धारण करे। अतः निश्चित सिद्धान्त यही है कि जो धारण शक्ति से संयुक्त है वही धर्म है।

धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यःस्याद् धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

प्रजा धारण करे अर्थात् प्रजा को पतित होने से बचाये, प्रजा को सन्मार्ग पर ले चलें। उस अधारभूत धर्म सनातन धर्म को कहा जाता है जो सबके लिए सब कालों में पालनीय है।

संस्कृति की अवधारणा -

संस्कृति अर्थात् सम्यक् कृति। इससे यह ध्वनि निकलती है कि जो कृति को सम्यक् रूप से सुधार दे वह संस्कृति है। यजुर्वेद में बड़े गौरव के साथ इसका प्रयोग करते हुए कहा गया है, **''सा प्रथमा संस्कृति विश्वारा''** अर्थात् हमारी यह प्रथम संस्कृति, श्रेष्ठ संस्कृति विश्ववरणीय है।

प्राचीन साहित्य में संस्कृति के समशील शब्द संस्कार का प्रयोग अधिक किया गया है, किंतु संस्कृति नवनिर्मित है, यह कहना गलत है। हम जो कुछ करते हैं, जिस प्रकार का वैयक्तिक, पारिवारिक या सामाजिक जीवन जीते हैं, उसकी निरन्तर सुधारते रहने की प्रक्रिया ही संस्कृति है। जीवन को सुसंकृत करते रहने के तीन साधन हमारे पूर्वजों ने बताये हैं, गुणधान (गुणों को अर्जित करना) दोषापनयन (दोषों को दूर करना) और मांगपूर्ति अर्थात जो आवश्यक अवयव (सहायता साधन) अपने पास न हों उन्हें अन्यों से प्राप्त करना। हम दूसरों से अच्छे विचार या साधन लेने के लिए सदा प्रस्तुत रहे हैं। ऋग्वेद की ही उक्ति हैं, **''आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः''** अर्थात सब दिशाओं से मिले शुभ ज्ञान। इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि स्वीकार किया जाने वाला विचार या उपकरण हमारे लिए शुभ है कि नहीं, हमारी संस्कृति के अनुकूल है या नहीं।

हमें निरन्तर अपने समाज का निरीक्षण करते रहना चाहिए और गुणों का अर्जन तथा दोषों का त्याग करते रहना चाहिए तभी हम सुसंस्कृत होंगे और समाज को सुसंकृत बना सकेंगे। वह मानदंड संस्कृति के लिए भी सच है। सृष्टि में समरसता, सद्भाव बनाये रखने वाली ज्ञान और आनन्द की वृद्धि करने वाली व्यवस्था संस्कृति है एवं उसकी विरोधी व्यवस्था विकृति है।

भारतीय संस्कृति की एक आधारभूत विशेषता है कि

अपने अपने उपास्य की उत्कृष्टता सिद्ध करने के हठाग्रह के कारण धार्मिक विद्वेष उत्पन्न होता है जिसके फलस्वरूप धार्मिक संघर्ष होते रहे हैं। भारतीय संस्कृति ने इस विकृति के निराकरण के लिए एक अद्भुत स्थापना की है। ऋग्वेद में कहा गया है कि **''एकं सद्विप्रा बहुता वदन्ति''** अर्थात् परमसत्ता एक ही है जिसे विद्वान विविध नामों से पुकारते हैं। उपास्यों के नाम, रूप, लीला, धाम आदि में विभिन्नता हो सकती है किन्तु यदि वे परम सत्ता के बावजूद भी मूलतः एक ही हैं। अतः इनके लिए विवाद करना असंगत है। इस मान्यता के कारण भारत में बड़ी हद तक साम्प्रदायिक समरसता बनी रही। सम्राट हर्षवर्धन, शिव, सूर्य और बुद्ध तीनों की उपासना करते थे। एक परिवार के भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न इष्टदेवों की पूजा करते हुए प्रेमपूर्वक साथ-साथ रहते हैं। अपने इष्टदेव को बड़ा साबित करने के लिए झगडा नहीं करते।

अर्थात् अपनी भिन्न-भिन्न रुचि के अनुसार सीधे या टेढ़े मार्ग पर श्रद्धापूर्वक चलते हुए सभी साधक ही प्रभु, तुम तक उसी प्रकार पहुँचेंगे जिस प्रकार उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम किसी भी दिशा की ओर बहने वाली नदियाँ समुद्र तक पहुँचती है। स्वामी विवेकानन्द ने शिकागो के विश्व धर्म सभा में उपरोक्त पंक्तियों को सुनाकर श्रोताओं को भाव विभोर कर दिया था। विनोबा भावे ने इसे भारतीय संस्कृति का भेदक लक्षण घोषित करते हुए इसको ''भी वाद'' की संज्ञा है। इसका अर्थ हुआ कि यदि हम सब श्रद्धापूर्वक चल रहे हैं तो भगवान तक मेरा रास्ता भी पहुँचेगा और तुम्हारा तथा उसका रास्ता भी पहुँचेगा। यह ''भी वाद'' यदि सभी धर्मावलम्बियों द्वारा स्वीकार कर लिया जाय तो धार्मिक संघर्ष का मूलोच्छेद हो जाय। पर अभी तक इसकी संभावना बहुत कम है क्योंकि विनोबा भावे के अनुसार यहूदी, इसाई और इस्लाम ''ही वादी'' धर्म है। इसमें से प्रत्येक यह मानता है कि उसका रास्ता ही सही रास्ता है और दूसरों के रास्ते गलत हैं। यह भी यहाँ जोड़ देना उचित है कि बाबा विनोबा के अनुसार मार्क्सवादी भी ''ही वाद'' ही है। वे भी सबों पर अपना सिद्धान्त थोपने के हठाग्राही हैं।

भारतीय संस्कृति की एक और आधारभूत विशेषता है जीवन को समग्रता में ग्रहण करना। भारतीय संस्कृति खण्ड दृष्टियों से परिचालित नहीं होती। खंड दृष्टियों में मनुष्य के किसी एक विशेष पक्ष पर अत्यधिक बल दिया जाता है, जिससे उसके अन्य पक्ष उपेक्षित रह जाते हैं। अपनी समग्र दृष्टि के कारण भारतीय संस्कृति मानव जीवन की समस्त उपलब्धियों को चार पुरुषार्थों में समेट लेती है। जिसका वास्तविक अर्थ है **''पुरुषैः अथ्यते इति''** अर्थात मनुष्य जिसको चाहता है। मानव जीवन पर समग्र रूप से विचार कर निर्धारित किया गया है कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों को चाहता है। बाहर से भीतर की यात्रा से विचार किया जाय तो धर्म का स्थान काम के बाद आता है। किसी विशेष प्रयोजन से ऋषियों ने धर्म को सब से पहले रखा।

राज धर्म और राजनीति वस्तुतः कल्याणकारी तभी होती है जब वह सच्चे राजधर्म पर आधारित होती है, जिसका एक प्रधान लक्षण यह है कि राज्य पार्थिव व्रत का निर्वाह करे अर्थात् उसी प्रकार बिना किसी भेदभाव के सारी प्रजा का समान भाव से पालन करे जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियों को समाान भाव से धारण करती हैः

यथा सर्वाणि भूतानि धरा धारयते समम्।
तथा सर्वाणि भूतानि विभ्रतः पार्थिव व्रतम।।

भारतीय राज्य का आदर्श 'धर्मराज्य' रहा है। यह एक असम्प्रदायिक राज्य है। सभी पंथों और उपासना पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता एवं समादर का भाव भारतीय राज्य का आवश्यक गुण है। अपनी श्रद्धा और अन्तःकरण की प्रवृत्ति के अनुसार प्रत्येक नागरिक को उपासना का अधिकार अक्षुण्ण है तथा राज्य के संचालन अथवा नीति-निर्देशन में किसी भी व्यक्ति के साथ मत या सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव नहीं हो सकता। धर्म राज्य थियोक्रेसी अथवा महजबी राज्य नही है।

धर्म राज्य किसी व्यक्ति अथवा संस्था को सर्व सत्ता सम्पन्न नहीं मानता। सभी नियमों और कर्तव्यों में बंधे हुए हैं। कार्यपालिका, विधायिका और जनता, सबके अधिकार धर्माधीन है। स्वैराचरण कहीं भी अनुमत नहीं। अंग्रेजी का 'Rule of the Law' (विधि के अनुसार शासन) धर्मराज्य की कल्पना को व्यक्त करने वाला निकटतम शब्द है। निरंकुश और अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को रोकने तथा लोकतंत्र की स्वच्छन्दता में विकृत होने से बचाने में धर्मराज्य ही समर्थ है। राज्यों की अन्य कल्पनाएँ अधिकार मूलक हैं, किन्तु धर्म राज्य कर्तव्य-प्रधान है। फलतः इसमें अपने अधिकारों के

हनन की आशंका, असीम अधिकार प्राप्ति की लालसा, सीमित अधिकारों से असंतोष, अधिकारारूढ़ होने पर कर्तव्यों की उपेक्षा, अधिकार मद, विभिन्न अधिकारों के बीच संघर्ष, इन सबके लिए कोई गुंजाइश नहीं है।

इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय धर्म व राज्य को मजहबी राज्य या थियोक्रेटिक स्टेट नहीं कहा जा सकता है क्योंकि उसमें जाति, भाषा, उपासना पद्धति आदि के आधार पर जनता में भेदभाव नहीं किया जाता है।

वेदों में राष्ट्र शब्द अनेक बार आया है। यह ठीक है कि राष्ट्र शब्द का प्रयोग कभी-कभी राज्य और प्रजावर्ग के लिए भी किया गया है किन्तु मूलतः उसका प्रयोग देशवाचक है जिसमें एक विशिष्ट विचारधारा (संस्कृति) को मानने वाला वर्धिष्णु समाज के व्यक्तियों का सम्बन्ध माता-पुत्र का है। तभी वैदिक ऋषि कहता है, ''माता भूमिः पुत्रोह्मह पृथिव्याः'। वैदिक ऋषि को ज्ञात है कि यह धरती माता अनेक भाषाओं के बोलने वाले, अनेक धर्मों का अनुसरण करने वाले जनों को धारणा करती है।

कालांतर में वही भारतवर्ष के नाम से विख्यात हुआ। भारत नाम क्यों पड़ा इस पर मतभेद है। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार प्रजा का भरण पोषण करने के कारण मनु को भरत कहा जाने लगा। भरत से प्रतिपालित होने के कारण देश का नाम भारत पड़ा। कुछ विद्वानों के अनुसार दुष्यन्त के पुत्र भरत के नाम पर और कुछ के अनुसार ऋषभ के पुत्र भरत के नाम पर देश का नाम भारत हुआ। जो हो, विष्णु पुराण में इसकी सीमा का स्पष्ट निर्देश करते हुए कहा गया है।

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।
वर्ष तद् भारत नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

अर्थात समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो देश है, उसका नाम है भारतवर्ष, जिसकी संतति भारतीय के नाम से प्रसिद्ध है अथवा जहाँ भरत की सन्तति का वास है। विष्णु पुराण में भारत के पर्वतों, प्रदेशों, नदियों, निवासियों के वर्णन के बाद बताया गया है कि भारत कर्म भूमि है जबकि अन्य सभी भूमियाँ भोग भूमि है। अतः जम्बू द्वीप में भारत सर्वश्रेष्ठ देश है। संस्कृतिपरक भारतीय राष्ट्रवाद यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन भारत वर्ष के इतिहास में मनु, श्री राम, युधिष्ठिर, अशोक, विक्रमादित्य आदि कुछ ही ऐसे चक्रवर्ती राजा थे जिन्होंने पूरे भारतवर्ष पर शासन किया था। हमारा इतिहास साक्षी है कि राजनीतिक दृष्टि से विभिन्न से विभिन्न राज्यों में विभक्त होते हुए भी सांस्कृतिक दृष्टि से पूरा भारतवर्ष एक देश माना जाता था। देश के किसी कोने में बैठ कर पुण्य कार्य करने वाला व्यक्ति जल को शुद्ध करने के लिए देश के विभिन्न भागों में बहने वाली सात पवित्र नदियों का आह्वान करता था जो परम्परा आज तक चली आ रही है।

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन सन्निधिं कुरू॥

इसी तरह सात मोक्षदायिक पुरियाँ, द्वादश ज्योतिलिंग, बावन शक्तिपीठ चारधाम, चार महाकुम्भ क्षेत्र, रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवद् जैसे ग्रंथ आदि हमारे देश की एकता के महत्वपूर्ण संघटक हैं। यह हमारे देश की एकता का मुख्य आधार संस्कृति है तो हमारे देश के राष्ट्रवाद को स्वाभाविक रूप से सांस्कृतिक राष्ट्रवाद कहना चाहिए।

इसी सांस्कृतिक चेतना के कारण भारतवर्ष कभी दूसरे देशों पर अधिपत्य जमाने की लालसा से ग्रस्त नहीं हुआ क्योंकि हमारी राष्ट्रीयता की परिणति ''यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् बसुधैव कुटुम्बकम, स्व देशोंभुवनत्रयम' के अनुरूप वैश्विकता में होती रही है। राजनीतिक राष्ट्रवाद की विकृति साम्राज्यवाद के रूप में कितनी आसानी से हो जाती है इसे पश्चिमी देशों या पश्चिमी मतवादों से आक्रान्त देशों के इतिहास के अनुशीलन से समझा जा सकता है।

जब विदेशी शक्तियाँ सीमावर्ती राज्यों पर आक्रमण करती थीं तो देशभर के सभी राज्य मिलकर उनका प्रतिरोध नहीं करते थे। फलतः एक-एक करके वे राज्य विपन्न होते रहें और हमें पराधीनता का अभिशाप भोगना पड़ा। मध्यकालिक सांस्कृतिक निरन्तरता को ऐतिहासिक दृष्टि से आगे बढ़ाने पर यह लक्षित किया जा सकता है कि जब तुर्क आये, पठान आये, मुगल आये और केन्द्रीय राज्य क्षमता छिन गयी, तब भी हमारी संस्कृति ने ही सारे देश को एक मानने की दृष्टि को अक्षुण्ण रखा। इस बात पर भी ध्यान जाना चाहिए कि राजनीतिक पराजय के बावजूद हमारी संस्कृति ने किस प्रकार अन्याय का प्रतिरोध करने की प्रेरणा दी, समागत इस्लामी संस्कृति से कैसे सेतु बनायें, किस प्रकार उसे एक सीमा तक प्रभावित किया, कैसे उसने ग्रहणीय अंश को स्वीकारा।

यह सांस्कृतिक सेतु मुख्यतः योगियों, भक्तों, संतों, सूफियों ने तैयार किया। मध्यकाल में दक्षिण भारत में भक्ति

साधना का नवोन्मेष हुआ जिसे उत्तर भारत में प्रवाहित करने का महत्वपूर्ण कार्य आकाशधर्मी गुरू रामानन्द ने किया। भक्ति सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने घोषणा की ''जाति पांति पूछे नहीं कोई। हरि को भजै सौ हरि का होई।' और इस पर अमल भी किया। उनके शिष्यों में कबीर दास जो मुस्लिम जुलाहा कुल में पैदा हुए थे। उन्होंने हिन्दू मुसलमान दोनों को फटकारते हुए पूछा ''दुई जगदीस कहां से आये, कहु कौन भरमाया और दृढ़तापूर्वक घोषणा की;

हमारे राम रहीम, करीमा कैसो अलह राम सति सोई।
विसमिल मटि बिसभर एकें और न दूजा कोई॥

यह विचार एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति की भावना के अनुरूप ही है किन्तु उस संघर्ष काल में इसे घोषित करना सचमुच साहस का काम था। कबीर ने योगियों, सूफियों से सत्संग किया था।

गुरूनानक देव ने भी निर्गुण भक्ति पर बल दिया। हिन्दू, मुसलमान का भेद अस्वीकार कर दोनों को अपना शिष्य बनाया। उनमें भक्ति के साथ-साथ शक्ति की भी ज्योति चमकती थी। बाबर के अत्याचारों से क्षुब्ध होकर उन्होंने जिस तरह उसे फटकारा और घोषणा की, ''हिन्दुस्तान संभालसि बोला' वह सचमुच अत्यन्त प्रेरणादायक तेजस्विता का प्रमाण है। सचमुच मर्द के चेले उठे और इसी परम्परा का निर्वाह करते हुए गुरु अर्जुन देव ने गुरूग्रन्थ साहब की पवित्रता की रक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग किये, गुरू तेग बहादुर ने तिलक और जनेऊ के गौरव को बचाने के लिए, वस्तुतः उपासना पद्धति की भिन्नता के अधिकार की रक्षा के लिए अपनी कुर्बानी दी और गुरू गोविन्द सिंह उसी आदर्श को रूपायित करने के लिए जुझारू खालसा पंथ की स्थापना की। सांस्कृतिक चेतना, राष्ट्रीयता को किस प्रकार सुदृढ़ करती है। इसका उज्ज्वल निदर्शन है सिक्खों का बलिदानी इतिहास और दक्षिण-पश्चिम भारतवर्ष में समर्थ स्वामी रामदास की प्रेरणा से छत्रपति शिवाजी का प्रादुर्भाव।

भारतीय मुस्लिम समाज में भारतीय संस्कृति का संचार करने की दृष्टि से हिन्दी से सूफी कवियों मौलाना दाउद, कुतबन, मंझन, मालिक मुहम्मद जायसी आदि का बहुत महत्वपूर्ण योगदान हैं। इन कवियों ने इस्लाम को धार्मिक शब्दावली को सहज ही हिन्दी में रूपान्तरित कर दिया। अल्लाह और खुदा के साथ करतार, अलख निरंजन सर्वव्यापी का भी प्रयोग उन्होंने परमेश्वर के लिए किया। जायसी भारतीय दृष्टि को स्वीकारते हुए बेझिझक कहा है, ''विधुना के मारग हैं तेते, सरग नखत तन रोवां जेते' अर्थात् विधाता तक पहुँचने के उतने मार्ग है जितने आकाश में तारे हैं और शरीर में रोएं।

साहित्य के क्षेत्र में पठान-मुगल काल में ही भारतीय संस्कृति की उदारता को मुसलमान भाई अपना रहे थे। दाराशिकोह द्वारा उपनिषदों का फारसी अनुवाद करवाना भी इसी धारा की एक कड़ी है। यह देश का दुर्भाग्य ही है कि औरंगजेब की मजहबी कट्टरता ने इस धारा को अवरुद्ध करना चाहा पर फिर भी मन्दगति से ही सही वह धारा प्रवाहित होती रही।

आधुनिक युग में सांस्कृतिक प्रवाह

1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध छेड़े गये प्रथम स्वाधीनता संग्राम के पूर्व जनसंघर्ष की चेतना जगाने के लिए रोटी के साथ कमल को प्रतीक के रूप में चुनना हमारी सांस्कृतिक चेतना के कारण ही संभव हो सका। इस संग्राम में कंधे से कंधा मिलाकर हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए लड़े थे। दुर्भाग्य से इस स्वातंत्र्यसमर के विफल होने के बाद जनता में व्यापक हताशा फैल गयी। राष्ट्र को इस हताशा से उबारने के लिए पुनः एक बार हमारी संस्कृति चेतना सक्रिय हुई। राजा राममोहन राय, श्री रामकृष्ण परम हंसदेव, महर्षि दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, श्री अरविन्द घोष, स्वामी रामतीर्थ आदि महापुरुषों ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को उभार कर और विकृतियों को नकार कर पुनः देश में नवजीवन का संचार किया।

श्रीमद्भगवद्गीता इस काल की सर्वाधिक प्रेरक पुस्तक रही है। ऋषि बंकिम चन्द्र, स्वामी विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, श्री अरविन्द घोष, महात्मा गांधी, विनोबा भावे, डॉ. राधाकृष्णन तथा अन्य मनीषियों ने गीता से प्रेरणा लेकर जन जागरण अभियान चलाया। सशस्त्र क्रान्तिकारी और अहिंसक सत्याग्रही दोनों प्रकार के योद्धाओं के लिए गीता परम सम्बल थी। इस सांस्कृतिक जागरण का एक सुफल यह भी हुआ कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और जीवन मूल्यों के अन्ध अनुकरण या अन्धवर्जन के अतिरेकों से मुक्त होकर भारतीय प्रबुद्ध चित्त ने भारतीय और पाश्चात ज्ञान-विज्ञान

आदि के स्वस्थ समन्वय पर बल दिया।

डॉ. एनी बेसेन्ट ने 1920 में भारत के साथ हिन्दुत्व के गहरे सम्बन्धों के बारे में कहा था ''भारत में बहुत से धर्म और बहुत सी जातियाँ फल-फूल रही हैं किन्तु यदि हिन्दुत्व चला गया वह हिन्दुत्व, जिसमें यह भारत पला है- तो उसके जाने के साथ-साथ भारत भी शेष नहीं रहेगा। उस भारत पुरावशेष-संग्राहकों पुरातत्ववेत्ताओं के लिए चीर-फाड़ का एक विषय मात्र रह जायेगा और देश भक्ति के ध्येय तथा एक राष्ट्र के रूप में इसका अस्तित्व मिट जायेगा।

भारत का स्वतंत्रता आन्दोलन सचमुच एक महान युग था। इस युग में ज्ञान, संस्कृति, कला और साहित्य के क्षेत्रों में वास्तव में हर तरह से चहुमुखी नव चेतना का उदय हुआ, सभी क्षेत्रों में अलग-अलग और असंबद्ध रूप से विकास कर गौरव प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया गया, बल्कि मातृभूमि की मुक्ति के लिए सेवा भाव से कार्य किया गया।

स्वाधीनता संग्राम में और स्वाधीन भारत के विकास में सभी धर्मावलम्बी भारतीयों का योगदान रहा है। आदि काल से ही भारतीय संस्कृति एकरूपता की नहीं अन्तर्निहित एकता की पक्षधर रही है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में पूर्व राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए कहा था कि ''यूरोपीय व भारतीय राष्ट्रीयता में भिन्नता है। भारतीय राष्ट्रीयता सभी धर्म, भाषा, संस्कृति एक झंडे के नीचे आते हैं। एकता में अनेकता हमारी पहचान है।'[3] भारत एक बहुभाषी, बहुधर्मावलम्बी देश है, किन्तु फिर भी यह एक राष्ट्र है। भारतीय एक जन हैं। भारत का संविधान इसी मान्यता पर आधारित है। इसी कारण हमारे संविधान के निर्माताओं ने भारत गणराज्य को संघात्मक रूप दिया है, किन्तु वह मूल रूप सेएकात्मक है। संविधान के अनुच्छेद 3 द्वारा भारत की संसद को ऐसा करने का अधिकार दिया गया है और वह केवल सीधे-सादे बहुमत के आधार पर। अतः संविधान के पण्डितों ने भारत को ''नश्वर राज्यों के अविनाशी संघ की संज्ञा दी है।[4] इस राष्ट्र का आधार हमारी संस्कृति और विरासत है। हमारे लिए ऐसे राष्ट्रवाद का कोई अर्थ नहीं है जो हमें वेदों, रामायण, महाभारत, गौतम बुद्ध, भगवान महावीर, आदि शंकराचार्य, गुरू नानक देव, महाराणा प्रताप, शिवाजी महाराज, रानी लक्ष्मीबाई, स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, जयप्रकाश नारायण और असंख्य अन्य राष्ट्रीय अधिनायकों से अलग करता है। यह राष्ट्रवाद ही हमारा धर्म है।'[5]

भारत की ऐतिहासिक परम्परा के उज्ज्वल पक्षों में श्रद्धा, मातृभूमि के प्रति निष्ठा, रूप में स्वस्थ परिवर्तनों को स्वीकारते हुए भी स्वरूप की निरन्तरता का बोध, विचार स्वातंत्र्य, विविध उपासना पद्धतियों, भाषाओं, सामाजिक एवं क्षेत्रीय विशिष्टताओं के प्रति सद्भाव हमारी सांस्कृतिक चेतना के प्रमुख पक्ष रहे हैं। मध्ययुग में राजनीति के उपेक्षा करने का भरपूर दंड हमलोग भोग चुके हैं। अतः अब राजनीतिक आवश्यकताओं के प्रति भी पूर्णतः सजग रहना होगा। खासकर इस बात का ध्यान रखना होगा कि देश में बलिष्ठ राज्यों के साथ-साथ केन्द्र भी भरपूर बलिष्ठ हो जिससे हमारी सीमाओं पर अनुप्रवेश करने का दुस्साहस करने वालों को उचित सबक सिखाया जा सके।

संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं जिसकी संस्कृति के सम्पर्क में आने वाले दूसरे देशों को संस्कृतियों का आदान-प्रदान न किया हो। आधुनिक युग में तो यह प्रक्रिया और तेज हो गई है फिर भी दुनिया का कोई दूसरा देश ऐसा नहीं है जो अपनी संस्कृति को समासिक संस्कृतिक कहता हो। अतः अकुंठ चित्त से अपने देश की सस्कृति को सीधे-सीधे भारतीय संस्कृति कहना चाहिए। इस प्रकार स्वयं सिद्ध होता है कि भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा पूर्णत सांस्कृतिक है।

सन्दर्भ :-

1. अक्टूबर 1961 में मदुराई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को सम्बोधित करते हुए।
2. विश्वनाथ नरायन देवधर, पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार-दर्शन, खण्ड-7 व्यक्ति-दर्शन, सुरूचि प्रकाशन, पृ. 61.
3. पूर्व राष्ट्रपति, प्रवण मुखर्जी 18 अक्टूबर 2017 अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खाँ के 200वें जन्मदिवस समारोह में मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए।
4. लालकृष्ण आडवानी द्वारा अध्यक्षीय भाषण, प्रकाशन-भारतीय जनता पार्टी, पृ. 34.
5. लालकृष्ण आडवानी द्वारा अध्यक्षीय भाषण, प्रकाशन-भारतीय जनता पार्टी, पृ. 163.***